बौद्ध दर्शन २८६

अवलोकितेश्वर ग्रन्थमाला-४

विश्व समाज
तथा
सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना

परमपावन दलाई लामा
तेनजिन ग्यात्सो

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४१ ख्रीष्टाब्द १९९७

वीर्य ४६४

अवलोकितेश्वर ग्रन्थमाला–४

पुस्तकालयम्

विश्व समाज
तथा
सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना

परमपावन दलाई लामा
तेनजिन ग्यात्सो

हिन्दी रूपान्तरकार
परमानन्द शर्मा

भोट विद्या संस्थानम्

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४१ ख्रीष्टाब्द १९९७

अवलोकितेश्वर ग्रन्थमाला- ४

प्रधान सम्पादक : प्रो0 समदोङ् रिनपोछे

सम्पादक : प्रो0 रामशङ्कर त्रिपाठी

प्रथम संस्करण : १५०० प्रतियाँ, १९९७

मूल्य : अजिल्द : २०.००

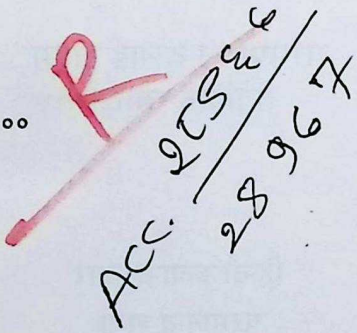

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी-२२१००७, भारत, १९९७
प्रकाशन सम्बन्धी सभी अधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी-२२१००७

मुद्रक : सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, पाण्डेयपुर, वाराणसी ।

वीर द. ४६४

प्रकाशकीय

परम पावन १४वें दलाई लामा तेनजिन ग्यात्सो विश्व की वर्तमान महान् विभूतियों में से अन्यतम हैं । विश्व को शान्त, सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिए इधर की शताब्दियों में महापुरुषों ने अनेक सिद्धान्त निरूपित किये हैं । तदनुसार राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि व्यवस्थाओं में अनेक परिवर्तन घटित हुए हैं । किन्तु परिणाम सामने हैं । मनुष्य आज भी दुःखी एवं संत्रस्त है । परम पावन दलाई लामा जी का मानना है कि विश्व की अच्छाई और बुराई के पीछे कारण के रूप में मनुष्य की अच्छाई एवं बुराई निहित है । अतः प्रत्येक व्यक्ति में ऐसा परिवर्तन अपेक्षित है, जिसके चलते वह विश्वजनीन दुःखों को कम करने और सार्वजनीन सुख को सुलभ कराने का उत्तरदायित्व वहन करनेवाली चेतना को अपने में विकसित कर सके और तभी सुखी एवं शान्त विश्व का आविर्भाव सम्भव है ।

यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य में उक्त प्रकार की चेतना का विकास सम्भव नहीं है या व्यावहारिक नहीं है । ज्ञात है संचार-माध्यमों के विकास ने आज दुनियां को छोटा बना दिया है । आज कोई भी व्यक्ति, समाज या बड़े से बड़ा राष्ट्र भी अपने को सर्वथा अन्य निरपेक्ष नहीं कह सकता । सबको दूसरों की अपेक्षा होती है । ऐसी स्थिति में परस्पर सद्भाव, सहयोग, परोपकार एवं मैत्री नितान्त आवश्यक हैं । परकल्याण की भावना एवं प्रयासों से ही दुनियां सुखी एवं शान्त बन सकती है, न कि हिंसा, द्वेष एवं अपकार के कृत्यों से । इस शताब्दी में लोगों ने दो-दो विश्वयुद्ध देखे हैं और यह भी देखा है कि हिंसा से किसी समस्या का समाधान सम्भव नहीं है ।

'विश्वसमाज तथा सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना' नामक इस पुस्तिका में परम पावन दलाई लामा जी ने जो कुछ कहा है, वह कोरा शास्त्रीय निरूपण नहीं है, अपितु उसके पीछे उनका मौलिक स्वतन्त्र चिन्तन, मानवीय दुःखों के प्रति संवेदना-जनित पीड़ा तथा साधना-जनित अनुभव हैं । इस पुस्तिका में प्रतिपादित उनके विचारों की उपादेयता पर विश्व के अद्यतन दार्शनिकों, वैज्ञानिकों एवं समाजचिन्तकों को विचार करना चाहिए ।

आदरणीय परमानन्द शर्मा ने इसका हिन्दी-अनुवाद करके तथा प्रो० रामशंकर त्रिपाठी ने इसका सुचारु सम्पादन करके निश्चित ही हिन्दी-पाठकों का उपकार किया है । हम इन विद्वानों को इन कार्यों के लिए साधुवाद देते हैं । संस्थान इस ग्रन्थ को प्रकाशित करते हुए हर्ष का अनुभव कर रहा है । प्रकाशन-अनुभाग के अधिकारी एवं कर्मचारी सदस्य भी हमारे साधुवाद के पात्र हैं ।

सारनाथ
१३ जून १९९७

स० रिनपोछे
निदेशक

विषयानुक्रम

प्रकाशकीय	iii
विषयानुक्रम	v
विश्वसमाज	१
एक ही मानव परिवार	२
पर–कल्याणभावना : एक औषधि	२
सार्वभौम उत्तरदायित्व	५
अहिंसा तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था	११
युद्ध की वास्तविकता	१४
विश्वशान्ति हेतु निरस्त्रीकरण	१८
चीन की स्थिति	२१
शान्ति–क्षेत्र	२२
उपसंहार	२४

विश्व समाज
तथा
सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना

विश्व समाज

जैसे ही बीसवीं शताब्दी समाप्त होने को है हम अनुभव कर रहे हैं कि दुनियां छोटी हो गई है तथा विश्व के लोग मानों एक ही समाज बन गए हैं । राजनीतिक एवं सैनिक गठबन्धनों ने अनेक बहु-राष्ट्रीय समूहों को जन्म दिया है; उद्योगों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विश्वव्यापी अर्थ-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ है तथा विश्व-स्तरीय संचार माध्यमों द्वारा दूरी, भाषा एवं जाति आदि की पुरानी बाधाएँ दूर हो रही हैं । हमारे समक्ष उपस्थित अनेकों समस्याएँ भी हमें एक दूसरे के निकट ला रही हैं, जैसे कि जनसंख्या की वृद्धि, प्राकृतिक साधनों का ह्रास तथा पर्यावरण सम्बन्धी त्रासदी, जिसने हमारे वायुमंडल, जल तथा वन-सम्पदा के लिए भय खड़ा कर दिया है और साथ ही, उन अनेकों सुन्दर जीव समूहों के लिए भी, जो कि इस ग्रह पर हमारे जीवन के मूल आधार हैं ।

मेरा विश्वास है कि अपने युग की चुनौतियों का सामना करने हेतु हमें सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना को अधिक विकसित करना होगा । हममें से हर एक को यह सीखना होगा कि उसे न केवल अपने, अपने परिवार अथवा अपने राष्ट्र के लिए ही, बल्कि समग्र मानवता के कल्याण हेतु काम करना है । सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना ही मनुष्य के जीवित रहने की असली कुंजी है । यही विश्व शान्ति, प्राकृतिक साधनों के समान बँटवारे तथा भावी पीढ़ियों के हित-चिन्तन और पर्यावरण की यथोचित देख-भाल के लिए ठोस आधार है ।

यह बात कुछ समय से मेरे विचार में रही है कि हम किस प्रकार पारस्परिक दायित्व की भावना तथा उसे जन्म देनेवाली पर-कल्याण भावना को बढ़ावा दें । इस सम्बन्ध में मैं अपने विचार प्रस्तुत करना चाहूँगा ।

एक ही मानव परिवार

हम पसन्द करें या न करें परन्तु इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि इस धरती पर हम सब का जन्म हुआ है, एक विशाल मानव परिवार के सदस्य के नाते । निर्धन व धनवान्, शिक्षित एवं अशिक्षित, इस राष्ट्र के अथवा उस राष्ट्र के, अमुक धर्म या अन्य किसी धर्म के अनुयायी, एक अथवा दूसरे वाद (विचार) से सम्बन्धित, हम सब एक दूसरे के समान बस इन्सान ही तो हैं । हम सब दुःख न चाहकर सुख के इच्छुक हैं । इसके अतिरिक्त, हम सब का समान अधिकार भी है इन लक्ष्यों को पाना ।

इस युग की आवश्यकता है कि हम मानवता की एकता को स्वीकार करें । भूतकाल में अलग-अलग समाज एक दूसरे को मूलतः भिन्न भी मान सकते थे तथा वे पूर्णतया अलग-थलग ही रहते भी थे, परन्तु आजकल संसार के एक भाग में घटित घटनाएँ अन्ततः समस्त पृथ्वी लोक को प्रभावित करती हैं । इसलिए अब हमें प्रत्येक स्थानीय समस्या को भी आरम्भ से ही एक विश्व-व्यापी समस्या के रूप में मानकर चलना चाहिए । हम उन जातीय, राष्ट्रीय और सैद्धान्तिक अवरोधों की, जो हमें जुदा करते हैं, आज दुहाई नहीं दे सकते, क्योंकि उसका परिणाम विध्वंसक प्रतिक्रिया भी हो सकती है ।

मैं उपर्युक्त स्थिति को आशाजनक मानता हूँ । सहकारिता की आवश्यकता मानवता को बलवती करेगी, क्योंकि हमें विश्वास है कि नई विश्व व्यवस्था हेतु अब सर्वाधिक सुरक्षित आधार नए नए राजनीतिक तथा आर्थिक गठबन्धन नहीं, बल्कि व्यक्ति मात्र की प्रेम तथा करुणा की यथार्थ चर्या ही हो सकती है । एक बेहतर, अधिक सुखमय तथा स्थिर एवं सभ्य भविष्य के निर्माण हेतु हममें से हर एक को हार्दिक तथा स्निग्ध भ्रातृत्व अथवा भगिनीत्व की भावना को विकसित करना होगा ।

पर-कल्याण भावना : एक औषधि

तिब्बत में प्रायः कहा जाता है कि प्रेम तथा करुणारूपी एक औषधि द्वारा अनेक रोगों का उपचार सम्भव है । ये गुण ही मनुष्य

के सुख के परम स्रोत हैं तथा हमारे अस्तित्व के लिए वे मूल-भूत आवश्यकताएँ हैं । दुर्भाग्यवश प्रेम तथा करुणा को सामाजिक सम्बन्धों के अनेक क्षेत्रों से बहुत अधिक समय से बाहर ही रखा गया है । प्रायः घर-परिवार तक सीमित रहने के कारण सार्वजनिक जीवन में उन का अभ्यास अव्यावहारिक तथा असम्भव समझा जाता रहा है । यह एक त्रासदी है । मेरे विचार में करुणा की चर्या अव्यावहारिक आदर्शवाद मात्र की प्रतीक न होकर अपने तथा दूसरों के हितसाधन हेतु सर्वाधिक प्रभावी मार्ग है । व्यक्ति, समूह तथा राष्ट्र के स्तर पर हम जितना अधिक दूसरों पर आश्रित रहेंगे, उतना अधिक हमारे अपने हित में रहेगा उन लोगों के हितों को सुनिश्चित बनाना; उनका कल्याण करना ।

पर-हित-चर्या ही समझौते तथा सहकारिता का सही मूल स्रोत है; केवल समरसता की आवश्यकता से अवगत होना मात्र ही पर्याप्त नहीं । करुणा के प्रति प्रतिबद्ध चित्त मानों एक जलाशय होता है, जो शक्ति, दृढ़ता तथा सहयोग का एक नितान्त स्रोत बना रहता है । ऐसा चित्त बीजरूप भी होता है; तथा जब उसे बोया जाता है तो उपज के रूप में वह अनेक अन्य गुणों को जन्म देता है, जैसे क्षमा, आत्म-शक्ति तथा निर्भयता और असुरक्षा पर नियंत्रण करने वाले गुणों को और आत्म-विश्वास को । करुणा-चित्त मानो एक रसायन की तरह होता है, क्योंकि वह कु-परिस्थितियों को सु-परिस्थितियों में बदल सकता है । अतः हमारी प्रेम तथा करुणा की अभिव्यक्ति केवल हमारे परिवार-जनों तथा मित्रों तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए । करुणा मात्र समाजसेवियों या स्वास्थ्यकर्मियों अथवा धार्मिक कर्मियों का ही दायित्व नहीं है, अपितु यह मानव समाज के प्रत्येक अङ्ग का कर्तव्य है ।

झगड़ा चाहे राजनीतिक क्षेत्र में हो, चाहे व्यापार के क्षेत्र में अथवा धार्मिक क्षेत्र में, उसे सुलझाने की एकमात्र विधि प्रायः पर-हित भावना का दृष्टिकोण ही होती है । कई बार किसी झगड़े में मध्यस्थता करने के लिए जिन सिद्धान्तों, व्यक्तियों या धारणाओं का हम प्रयोग करते हैं, वे ही समस्या का कारण बन जाते हैं । ऐसी

परिस्थिति में जब कि समस्या का समाधान असम्भव दीख रहा हो तो दोनों पक्षों को उस मूल मानव प्रकृति का स्मरण करना चाहिए, जो उन्हें जोड़ती है । ऐसा करने से गतिरोध दूर होगा तथा प्रत्येक पक्ष निर्धारित लक्ष्य को पाने में सक्षम हो जाएगा । हां, शायद दोनों में से कोई पक्ष भी पूर्णतया सन्तुष्ट न हो सके, परन्तु दोनों ओर से एक दूसरे को रियायतें देने के कारण कम से कम झगड़ा बढ़ने का ख़तरा तो टल ही जाएगा । हम सब जानते हैं कि इस प्रकार का समझौता ही समस्याओं के समाधान हेतु एक प्रभावी ढंग है, परन्तु फिर भी हम इसे क्यों अधिक प्रयोग में नहीं लाते ?

जब मैं मानव समाज में पारस्परिक सहयोग के अभाव पर विचार करता हूँ तो मैं इस परिणाम पर पहुँचता हूँ कि ऐसा शायद हमारी अन्योन्य-आश्रय की प्रकृति के अज्ञान के कारण होगा । मैं कई बार छोटे-छोटे कीड़ों के उदाहरण से द्रवित हो उठता हूँ । मधुमक्खियों को ही लीजिए । प्रकृति का विधान है कि जीवित रहने के लिए प्राणियों को मिलजुलकर काम करना सीखना होगा । फलतः मधुमक्खियों में सामाजिक दायित्व की भावना स्वाभाविक तौर पर विद्यमान होती है । उन के पास कोई संविधान नहीं, कानून और पुलिस नहीं, धर्म व्यवस्था या नैतिक प्रशिक्षण आदि कुछ नहीं, परन्तु स्वभाव-वश ही वे मिलजुलकर श्रम-साधना करती हैं । हो सकता है कभी-कभी आपस में लड़ती भी हों, परन्तु साधारणतया, उनके समस्त छत्तों के जीवन का आधार ही पारस्परिक सहयोग होता है । विपरीत इसके, मनुष्यों के पास संविधान हैं, विशाल विधि-प्रणालियां तथा पुलिस बल है, हमारे पास धर्म-व्यवस्था है, कुशाग्र बुद्धि तथा अपार प्रेम की क्षमता रखने वाला हृदय भी । परन्तु अपनी इन विशिष्टताओं के बावजूद वास्तविक चर्या में हम न केवल इन मधु-मक्खियों से भी बहुत पिछड़े हुए हैं, बल्कि मैं समझता हूँ कि हम इनसे निकृष्ट हैं ।

उदाहरण लें; विश्वभर के अनेकों बड़े-बड़े शहरों में लाखों लोग बसते हैं, परन्तु इस सामीप्य के बावजूद अनेक लोग अकेले हैं अर्थात् एकाकी महसूस करते हैं । कुछ के लिए तो एक भी ऐसा

व्यक्ति नहीं; जिसके समक्ष वे अपना दिल खोल सकें । ऐसे व्यक्ति निरन्तर एक विह्वलता की स्थिति में रहते हैं । यह बहुत दयनीय है । हम (मानव) पशुओं की तरह कोई एकाकी जीव तो नहीं हैं, जो मात्र यौनक्रिया हेतु ही मिलें । यदि ऐसा हो तो फिर इन बड़े-बड़े नगरों का हम क्यों निर्माण करें ? सो, ऐसे सामाजिक पशु होते हुए भी जिन्हें साथ-साथ रहना पड़ता हो, हम अपने साथी मानवों के प्रति दायित्व की भावना से रहित क्यों हैं ? क्या इसमें दोषी समाज की संरचना है ? परिवार तथा जाति की मूल व्यवस्थाएँ हैं, जिन पर हमारा समाज निर्भर है अथवा दोषी वे बाह्य एवं भौतिक सुविधाएँ हैं, जो हमें प्राप्त हैं, जैसे कि यन्त्र आदि तथा विज्ञान और तकनीकी ? मेरे विचार में, नहीं ।

मेरा विश्वास है कि वर्तमान शताब्दी में विज्ञान द्वारा की गई तेज़ प्रगति के बावजूद हमारी वर्तमान दुर्दशा का निकटस्थ कारण है मात्र भौतिक विकास पर हमारा अत्यधिक बल देना । इसके अनुसरण में हम इतने व्यस्त हो चुके हैं कि अनजाने ही हमने अन्यमनस्कता दिखाई है प्रेम के विकास की मूल मानवीय आवश्यकता के प्रति, करुणा, सहयोग तथा सहानुभूति के प्रति । यदि हम किसी से अपरिचित हों अथवा उस व्यक्ति या समूह से असम्बद्ध महसूस करने का कोई अन्य कारण हो तो हम उनकी ओर बिलकुल ध्यान ही नहीं देते, जबकि मानव समाज का विकास पारस्परिक सहयोग और साहाय्य पर आधारित है । यदि हमने उस मूल मानवीय भावना को ही खो दिया, जो हमारा आधार है तो भौतिक उपलब्धियों मात्र के पीछे भागने से क्या लाभ ?

सार्वभौम उत्तरदायित्व

सबसे पहले मैं यह स्पष्ट करना चाहूँगा कि आन्दोलनों को जन्म देने अथवा वादों के प्रतिपादन में मेरा कोई विश्वास नहीं है । किसी सिद्धान्त अथवा विचारधारा विशेष के प्रचार हेतु संस्थाएँ स्थापित करने की प्रथा भी मुझे पसन्द नहीं, क्योंकि ऐसी संस्थाओं का अर्थ होता है उनके गिने-चुने लोगों द्वारा ही लक्ष्य-प्राप्ति सम्भव है जबकि

अन्य उससे अस्पृष्ट या पृथक् रह जाते हैं । हमारी आज की परिस्थितियों में हममें से कोई यह नहीं मान सकता कि कोई अन्य हमारी समस्याएँ सुलझा देगा; हममें से हर एक को सार्वभौम उत्तरदायित्व में अपना-अपना हिस्सा बाँटना पड़ेगा, अपनी-अपनी भूमिका निभानी पड़ेगी । इस प्रकार जब दूसरों की चिन्ता करने वाले और उत्तरदायित्व को समझनेवाले लोगों की संख्या बढ़ेगी तो वैसे बीसियों, सैकड़ों, सहस्रों बल्कि लाखों लोग सामान्य वातावरण को परिवर्तित कर उसे अत्यन्त सुचारु बना देंगे । सकारात्मक परिवर्तन शीघ्र घटित नहीं होता, बल्कि उसके लिए निरन्तर प्रयास की आवश्यकता होती है । यदि हम निरुत्साहित हो जाएँगे तो साधारण लक्ष्य की प्राप्ति भी असाध्य होगी, जब कि निरन्तर दृढ़तापूर्ण प्रयत्नों द्वारा हम कठिन से कठिन ध्येय को भी प्राप्त कर सकते हैं ।

सार्वभौम उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण को अपनाना एक पूर्णतया व्यक्तिगत बात है । करुणा की यथार्थ परीक्षा यह नहीं कि हम तत्सम्बन्धी सूक्ष्म विचार-विमर्श के दौरान क्या बोलते हैं, बल्कि यह है कि दैनिक जीवन में हमारा आचार-व्यवहार कैसा है ? तो भी कुछ आधारभूत विचार पर-हित भावना की चर्या हेतु आवश्यक हैं ।

यद्यपि कोई भी राज्य-पद्धति सम्पूर्ण नहीं तो भी प्रजातंत्र मूल मानव प्रकृति के निकटस्थ है । इसलिए हममें से जो लोग इस प्रणाली का आनन्द ले रहे हैं, उन्हें दूसरों को यह अधिकार दिलाने हेतु संघर्ष-रत रहना चाहिए । प्रजातन्त्र ही ऐसी स्थिर नींव है, जिस के ऊपर एक विश्व-व्यापी राजनीतिक संरचना का निर्माण हो सकता है । एक-जुट काम करने हेतु हमें समस्त जातियों एवं राष्ट्रों के इस अधिकार का सम्मान करना चाहिए, ताकि वे अपने विशिष्ट व्यक्तित्व तथा मूल्यों को बनाए रख सकें और विकसित कर सकें ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में; विशेषतः करुणा के समावेश हेतु बहुत कठिन परिश्रम की आवश्यकता होगी । आर्थिक असमानता, विशेषकर विकसित तथा विकासशील देशों के बीच, इस धरती पर दुःख का सबसे बड़ा स्रोत है । बड़े-बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों को

निर्धन राष्ट्रों की स्थिति से लाभ उठाने की वृत्ति को रोकना होगा, बेशक चाहे शुरू में उन्हें आर्थिक हानि भी उठानी पड़े । विकसित क्षेत्रों द्वारा उपभोक्तावाद की उन्नति हेतु विकासशील क्षेत्रों के अत्यल्प साधनों का दुरुपयोग करना बड़ा विनाशकारी है; यदि यह अनियन्त्रित रूप में जारी रहेगा तो हानि हम सबकी होगी । राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिरता के हित में निर्बल व सीमित अर्थ-व्यवस्था वाले राष्ट्रों को प्रोत्साहित करना अधिक हितकर नीति होगी । बेशक यह आपको चाहे कोरा आदर्शवाद ही प्रतीत हो, परन्तु पर-हित भावना, न कि प्रति-स्पर्द्धा तथा धन-लालसा ही हमारे व्यापार और व्यवहार की प्रेरक शक्ति होनी चाहिए ।

आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हमें मानवीय मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को दुहराना चाहिए । यद्यपि विज्ञान का मुख्य लक्ष्य तथ्यों की खोज है तो भी उसका एक अन्य ध्येय भी है, जीवन के स्तर को अच्छा बनाना । पर-कल्याण भावना की प्रेरणा के बिना वैज्ञानिक कल्याणकारी तकनीकी तथा मात्र सामयिक लाभकारी तकनीकी में अन्तर को नहीं समझा जा सकता । हमारे समक्ष उपस्थित पर्यावरणीय संकट इसी उलझन का स्पष्ट प्रमाण है । यदि हमारी प्रेरणा ठीक होगी तो नए-नए जीव-विज्ञान सम्बन्धी प्रयोग, जिनके द्वारा जीव-प्रजनन के अद्‌भुत करिश्मे प्रस्तुत करना अब सम्भव हो गया है, हम सुचारु ढंग से उपयोग में ला सकेंगे । यदि हम अपने प्रत्येक कार्य में नैतिकता को आधार नही बनाते तो डर है कि हम जीवन के कोमल आधार को घोर आघात पहुँचाएँगे ।

विश्व के धर्म भी उपर्युक्त दायित्व से अलग नहीं रह सकते । धर्म की सार्थकता मात्र भव्य मन्दिरों अथवा गिरजाघरों का निर्माण नहीं, बल्कि कुशल मानवीय गुणों का विकास है—जैसे कि सहनशीलता, दान-शीलता तथा प्रेम-शीलता । उसका दार्शनिक दृष्टिकोण चाहे कुछ भी हो, परन्तु विश्व का प्रत्येक धर्म प्रथमतः तथा प्रमुखतः इस शिक्षा पर आधारित है कि हमें अपने स्वार्थ को घटाकर दूसरों की सेवा करनी चाहिए । दुर्भाग्य-वश अनेक बार धर्म ही अधिक समस्याओं एवं झगड़ों को जन्म देने लगते हैं, बजाय

उनका समाधान करने के । भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों को यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक धार्मिक परम्परा मूलभूत रूप से मूल्यवान् है तथा उसमें कायिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्रदान करने की क्षमता है । एक ही धर्म, एक ही प्रकार के भोजन की तरह सबको तृप्त नहीं कर सकता, सन्तुष्ट नहीं कर सकता । अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न मानसिक रुचियों के अनुरूप कुछ लोगों को एक धर्म तथा कुछ को दूसरा सान्त्वना प्रदान करता है । प्रत्येक धर्म में क्षमता है—उदार एवं सहृदय व्यक्तियों को जन्म देने की । अपिच, परस्पर विरोधी वादों के प्रचार के बावजूद सभी धर्मों में निश्चय ही ऐसे उदार एवं सहृदय व्यक्ति पैदा हुए हैं । इस वास्ते कोई कारण नहीं कि हम विघटन-वादी धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता से काम लें, बल्कि कारण है कि हम सभी प्रकार की धर्म-चर्याओं का आदर करें ।

निस्सन्देह, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक ऐसा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है, जिसमें बृहत्तर पर-हित भावना का बीजारोपण किया जा सकता है । गत वर्षों में विश्व में नाटकीय परिवर्तन हुए हैं । मेरे विचार में हम सब इस बात से सहमत होंगे कि शीत युद्ध की समाप्ति तथा पूर्वीय योरूप में साम्यवाद का विघटन तथा भूतपूर्व सोवियत संघ का पतन, इन सबके कारण एक नए ऐतिहसिक युग का सूत्र-पात हुआ है । नब्बे के दशक में से गुज़रते हुए हमें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि बीसवीं शताब्दी का मानवीय अनुभव अपना वृत्त पूरा कर चुका है ।

मनुष्य के इतिहास में यह अत्यन्त दारुण दुःख का समय रहा है जब कि विनाशक शस्त्रों की विनाशक क्षमता में तीव्र वृद्धि के कारण पहले से कहीं अधिक संख्या में लोग पीड़ित हुए या हिंसा से मरे । इसके अतिरिक्त, हमने उन मौलिक अवधारणाओं में, जिन्होंने सदैव मानव समाज को विभक्त रखा है, उनमें संघर्ष एवं स्पर्द्धा भी देखी है । अर्थात् बल तथा बर्बर शक्ति एक ओर तथा स्वतन्त्रता, बहु-जातीयता, वैयक्तिक अधिकार और प्रजातन्त्र दूसरी ओर । मेरा विश्वास है कि इस महान् स्पर्द्धा एवं संघर्ष के आखिरी परिणाम अब हमारे सामने स्पष्ट हैं । यद्यपि शान्ति, स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र की

महान् भावना को अब भी कई रूपों में अत्याचार तथा उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा है तो भी यह एक स्पष्ट तथ्य है कि विश्वभर के अधिकांश लोग इसकी विजय के इच्छुक हैं । इस प्रकार हमारे युग की त्रासदियों का एक लाभ भी रहा है, क्योंकि कई उदाहरण हैं, जहाँ ये त्रासदियाँ ही मानव मन को उन्मुक्त बनाने में सफल हुई हैं । साम्यवाद का धराशायी होना इसी सत्य का प्रमाण है ।

यद्यपि साम्यवाद ने पर-हित भावना सहित अनेक सद्-विचारों का भी प्रचार किया तो भी इसके प्रबन्धकीय ढांचे के वरिष्ठ नेताओं ने अपने विचारों को दूसरों पर थोपने की जो प्रक्रिया अपनाई, वह इसके लिए विनाशकारी सिद्ध हुई । साम्यवादी सरकारों ने भरपूर कोशिश की कि उनके समाज बाहरी सूचना से वंचित रहें तथा उन्होंने अपना शैक्षणिक ढांचा ऐसा निर्मित किया कि लोग मात्र समाजहित में काम करते रहें । यद्यपि शुरू-शुरू में पूर्व अत्याचारी शासनों को ध्वस्त करने हेतु कुछ कुछ कट्टरपन अवश्य ज़रूरी रहा होगा, परन्तु एक बार उस लक्ष्य की पूर्ति के पश्चात् साम्यवादी प्रणाली के पास कुछ बचा ही नहीं एक लाभकारी समाज के निर्माण हेतु । साम्यवाद पूर्णतया असफल हुआ, क्योंकि उसने अपनी विचारधारा लादने के लिए बल प्रयोग का आश्रय लिया । अन्ततोगत्वा उससे जनित दुःखों को सहना मानव की प्रकृति के लिए असम्भव हो उठा ।

बर्बरता-पूर्ण बल का कितना भी सशक्त उपयोग हो, वह कभी भी मानव की मूल स्वातन्त्र्य भावना को दबा नहीं सकता । पूर्वी योरूप के नगरों में जुलूस निकालने वाले लाखों लोग इसी का प्रतीक थे । कितना रोमांचकारी दृश्य था वह ! वे लोग स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र की मानवीय आवश्यकता ही तो व्यक्त कर रहे थे । उनकी मांगों का सम्बन्ध किसी नए वाद से नहीं था; वे लोग तो बस अपने भीतर को मुखरित कर रहे थे । वे सब स्वतन्त्रता के इच्छुक थे तथा इस तथ्य का प्रमाण थे कि ऐसी आवाज़ मानव के अन्तःकरण से उठती हैं । सत्य तो यह है कि व्यक्ति तथा समाज

दोनों के लिए स्वतन्त्रता ही क्रियात्मकता का स्रोत होती है । जैसे कि साम्यवादी प्रणाली में धारणा थी कि लोगों को बस रोटी, कपड़ा और मकान दे दिया जाए तो इतना ही काफी है, किन्तु उनके लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं होता । इन सब चीज़ों के हमारे पास होते हुए भी यदि हमारे अन्तस्तल के भावों के पोषण हेतु स्वतन्त्रता का वायुमण्डल अनुपलब्ध रहे तो हम मात्र अर्ध–मानव ही रहेंगे । इतना ही नहीं, हम उन पशुओं की तरह ही रहेंगे, जो कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र से सन्तुष्ट रहते हैं ।

पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी योरूप के देशों में घटित शान्तिपूर्ण क्रान्ति से, मेरे विचार में, हमें कई शिक्षाएँ मिली हैं । पहली यह कि सत्य मूल्यवान् वस्तु है । जनता किसी की दादागिरी को पसन्द नहीं करती, न ही उसे यह पसन्द है कि कोई व्यक्ति अथवा प्रणाली उसे धोखा दे अथवा उससे झूठ बोले । ऐसे कृत्य मूल मानवीय भावना का विरोध करते हैं । इसीलिए जो धोखाधड़ी से काम लेते हैं तथा बल प्रयोग का सहारा लेते हैं, उन्हें शायद कुछ समय के लिए विशेष लाभ हो भी जाए, परन्तु अन्ततोगत्वा उनकी पराजय ही होगी ।

विपरीत इसके, सत्य की सब सराहना करते हैं तथा उसके प्रति समादर की भावना हमारे स्वभाव में है । सत्य ही सर्वोत्तम आश्वासन–जनक एवं विश्वासाधायक है और है स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र की नींव । आप निर्बल हैं अथवा सबल, आपके संघर्ष में अधिक लोग आप के साथ हैं अथवा कम, इन बातों से कोई फर्क़ नहीं पड़ता; विजय सदा सत्य की ही होगी । १९८९ तथा उसके पश्चात् होने वाले स्वतन्त्रता आन्दोलनों की सफलता का आधार उन लोगों की सत्यमूलक भावनाओं का होना इस तथ्य का एक मूल्यवान् संकेत है कि अभी तक हमारे राजनीतिक क्षेत्र में सत्य की बड़ी न्यूनता है । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विशेषकर हम सत्य को बहुत कम आदर देते हैं । परिणाम यह है कि कमज़ोर राष्ट्रों को शक्तिशाली राष्ट्र दबाते हैं तथा उन पर अत्याचार ढाते हैं, ठीक उसी तरह, जिस प्रकार अधिकांश समाजों के कमज़ोर वर्ग समृद्ध एवं प्रभावशाली वर्गों द्वारा

प्रताड़ित किए जाते हैं । यद्यपि अतीत में तो सत्य की साधारण अभिव्यक्ति को अव्यावहारिक कह कर टाल दिया जाता रहा, परन्तु गत कतिपय वर्षों में यह प्रमाणित हो गया है कि सत्य मनुष्य के अन्तर्मन की एक महान् शक्ति है, जो इतिहास के निर्माण में योग दे सकती है ।

पूर्वी योरूप की घटनाओं से दूसरी शिक्षा मिलती है— शान्तिपूर्ण परिवर्तन की । भूतकाल में परतन्त्र देशों ने अपने स्वतन्त्रता आन्दोलनों में प्रायः हिंसा के मार्ग को अपनाया था, परन्तु अब महात्मा गान्धी तथा मार्टिन लूथर किंग (कनिष्ठ) का अनुकरण करते हुए इन शान्तिपूर्ण क्रान्तियों ने आने वाली पीढ़ियों के लिए सफल, अहिंसात्मक परिवर्तन का एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है । भविष्य में जब कभी समाज में पुनः किसी बड़े परिवर्तन की आवश्यकता पड़ेगी तो हमारे परवर्ती बन्धु इस वर्तमान काल–खण्ड को शान्तिपूर्ण संघर्ष के एक आदर्श के रूप में देखेंगे, जो असाधरण स्तर का एक सफल प्रयोग है और जिसके सूत्रधार थे दर्जन से अधिक राष्ट्र तथा उनके लाखों लोग । इसके अतिरिक्त, इन घटनाओं ने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि शान्ति तथा स्वतन्त्रता की आकांक्षा मानव के मूल स्वभाव में निहित है तथा हिंसा की वृत्ति उसके बिलकुल प्रतिकूल ।

इस विषय पर विचार करने से पूर्व कि उत्तर–शीतयुद्ध काल में कौन सी विश्व व्यवस्था हमारे लिए उपयुक्त रहेगी ? मेरे विचार में हिंसा के विषय पर विचार करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक स्तर पर इसका निर्धारण ही विश्वशान्ति तथा किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था रूपी लक्ष्य की साधना हेतु आवश्यक आधार हो सकता है ।

अहिंसा तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था

उग्रवाद, अपराध तथा आक्रामक घटनाओं का ब्यौरा प्रतिदिन प्रचार माध्यमों द्वारा प्रसारित होता रहता है । मैं किसी भी ऐसे देश में नहीं गया हूँ, जहां मौत और खून–खराबे की दुःखान्त कहानियो से

समाचार–पत्रों के पन्ने तथा वहां का वातावरण भरा न पड़ा हो । संवाद–दाताओं तथा उनके पाठकों को ऐसे समाचारों की मानों लत सी पड़ गई है । अधिकांश मानव समाज तो विध्वंसात्मक प्रवृति का है नहीं । इस ग्रह के पाँच खरब निवासियों में से बहुत कम ऐसे हैं, जो हिंसात्मक कृत्य करते हैं । हम में से अधिकतर लोग जितना हो सके, उतना शान्त रहना पसंद करते हैं ।

मूलतः हम सब को शान्ति अच्छी लगती है । हां, उन को भी, जो हिंसा करते हैं । उदाहरणार्थ, वसन्त में दिन बड़े हो जाते हैं, धूप अधिक रहती है, घास तथा तरुवर जीवन्त हो उठते हैं और सब कुछ बहुत ताज़ा ताज़ा लगता है । लोग आनन्द का अनुभव करते हैं । पतझड़ में एक पत्ता झड़ता है, फिर और झड़ते हैं और सभी सुन्दर फूल भी मर जाते हैं तथा हमारे इर्द–गिर्द शेष रह जाते हैं सूखे नंगे ठूंठ । तब हम वैसा आनन्द अनुभव नहीं करते । ऐसा क्यों ? इसलिए कि अपने अन्तस्तल से हम रचनात्मक एवं सांगोपांग विकास के इच्छुक हैं तथा झड़ रही, मरणशील तथा विनष्ट हो रही वस्तुओं को नापसंद करते हैं । प्रत्येक विध्वंसक कृत्य हमारी मूल प्रकृति के प्रतिकूल होता है । निर्माण रचनात्मक प्रक्रिया है और मानव प्रकृति के अनुकूल भी ।

मुझे विश्वास है कि हम सब हिंसा पर क़ाबू पाने की आवश्यकता को समझते हैं, परन्तु यदि हमें इस को पूर्णतया समाप्त करना है तो पहले यह विश्लेषण कर लेना चाहिए कि क्या हिंसा का कोई लाभ भी है या नहीं ।

यदि हम खाली उपयोगिता के सन्दर्भ में ही इस प्रश्न को देखें तो कभी–कभी लगता है कि किसी अवसर पर हिंसा लाभप्रद भी प्रतीत होती है; बल प्रयोग द्वारा समस्या शीघ्र सुलझ जाती है । हां, इतना अवश्य है कि वह सफलता प्रायः दूसरों के कल्याण तथा अधिकारों की कीमत पर प्राप्त होती है । अतः इस तरह एक समस्या के सुलझने से दूसरी समस्या का बीजारोपण भी हो जाता है । विपरीत इसके, यदि लक्ष्य न्याय–संगत है तो हिंसा का

मार्ग अपनाने का कोई तुक नहीं । केवल वे लोग ही, जिन का ध्येय स्वार्थ के सिवाय कुछ नहीं होता तथा जो तर्क-संगत ढंग से लक्ष्य-प्राप्ति करने में असमर्थ होते हैं, वे ही बल प्रयोग का आश्रय लेते हैं । जब पारिवारिक जनों अथवा मित्रों में कभी असहमति हो जाए तो जिनके पास उपयुक्त तर्क हैं, वे उन्हें एक के पश्चात् एक प्रस्तुत कर सकते हैं तथा एक बिन्दु से दूसरे तक दलील दे सकते हैं, जबकि वे लोग जिनके पास युक्ति-युक्त कहने को कुछ होता नहीं, शीघ्र ही क्रोधित हो उठते हैं । क्रोध शक्ति का प्रतीक न हो कर दुर्बलता का द्योतक होता है ।

अन्ततः यह भी आवश्यक है कि अपनी तथा अपने विरोधी की प्रेरणा के स्रोत का निरीक्षण किया जाए । हिंसा तथा अहिंसा के अनेक प्रकार होते हैं, परन्तु मात्र बाहरी चिह्नों से उनका अन्तर नहीं सूझता । यदि प्रेरणा नकारात्मक अथवा अकुशल होगी तो पूर्ण-रूपेण तज्जनित कर्म भी हिंसात्मक होगा, चाहे वह कितना ही सरल एवं कोमल प्रतीत हो । इसके विपरीत, यदि प्रेरणा सकारात्मक अथवा कुशल तथा हार्दिक हो और परिस्थितियों की मांग कर्कश व्यवहार हो तो भी वह अहिंसात्मक व्यवहार ही होगा । अतः स्थिति कैसी भी हो, मेरे विचार में परकल्याणमूलक करुणा-भावना ही बल प्रयोग को एकमात्र औचित्य प्रदान कर सकती है, बशर्ते कि उसमें स्वार्थ का लेशमात्र भी न हो ।

हमारी इस धरती पर अहिंसा की विशुद्ध चर्या अभी तक एक प्रयोग की स्थिति में ही है । प्रेम तथा सहिष्णुता पर आधारित अहिंसा का चलन बहुत पवित्र होता है । यदि अहिंसा का यह प्रयोग सफल हो जाए तो आगामी शताब्दी में एक अधिक शान्तिमय विश्व का मार्ग खुल जाएगा ।

कभी-कभी मैंने पश्चिम के लोगों को यह विश्वास दुहराते सुना है कि दीर्घकालिक गान्धीवादी संघर्ष, जो अहिंसात्मक विरोध पर आधारित हों, सब के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता तथा इस प्रकार की कार्य-पद्धति पूर्व के लिए ही अधिक स्वाभाविक है । पश्चिमी

लोग अधिक चुस्त हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति रहती है प्रत्येक स्थिति में तुरन्त लाभ अर्जित करने की, चाहे जान से भी हाथ धोना पड़े । मेरे विचार में यह प्रवृत्ति हमेशा ठीक नहीं रहती । हां, अहिंसा की चर्या हम सब के लिए लाभकारी है । इस में ज़रूरत है बस दृढ़ निश्चय की । यद्यपि पूर्वी योरूप के स्वतन्त्रता आन्दोलनों को तुरन्त सफलता मिल गई, परन्तु किसी भी अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए स्वाभाविक तौर पर, अधिक धैर्य की आवश्यकता होती है ।

मैं प्रार्थना करता हूं कि उन्हें कुचलने के लिए की गई बर्बरता तथा उनके आन्दोलन के समक्ष उपस्थित कठिनाईयों के बावजूद चीन के प्रजातन्त्र आन्दोलन में भाग लेने वाले लोग सदैव शान्त रहें । मुझे विश्वास है कि वे रहेंगे भी । यद्यपि उस आन्दोलन में भाग लेने वाले अधिकांश चीनी युवकों का पालन-पोषण एक अत्यन्त निरीह साम्यवादी ढांचे के अन्तर्गत हुआ था, फिर भी १९८९ की वसन्त में उन्होंने स्वान्तःस्फूर्ति से महात्मा गान्धी की अहिंसात्मक विरोध की प्रणाली को अपनाया; यह बड़ा विचित्र था । इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्ततोगत्वा मनुष्यमात्र शान्ति के मार्ग का इच्छुक है, चाहे उसे कितनी ही पट्टी पढ़ाई गई हो, चाहे उन्हें कितनी ही जहरीली शिक्षा दी गई हो ।

युद्ध की वास्तविकता

व्यवस्थाएँ निस्सन्देह युद्ध तथा विशाल सैन्यसंनद्ध संसार में हिंसा की सब से बड़ी स्रोत हैं । उनका उद्देश्य चाहे सुरक्षात्मक हो, चाहे आक्रामक, परन्तु ये विशाल एवं सशक्त व्यवस्थाएँ विद्यमान ही हैं केवल मनुष्यों की हत्या के लिए । हमें युद्ध के सत्य एवं उसकी वास्तविकता के सम्बन्ध मे ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए । हमारी सब की मनोवृत्ति ऐसी बन गई है कि हम युद्ध को अथवा सैनिक टकराव को बड़ी रोमांचकारी तथा तड़क-भड़क वाली बात समझने लगे हैं, अर्थात् एक ऐसा अवसर, जिसमें मर्द अपने कौशल तथा साहस का प्रमाण दे सकते हों । सेनाओं का अस्तित्व विधि-संगत होने के कारण हम युद्ध के अस्तित्व को भी स्वीकारने लगे हैं ।

यह प्रायः कोई भी महसूस नहीं करता कि युद्ध एक अपराध है अथवा उसकी स्वीकृति आपराधिक वृत्ति है । सत्य तो यह है कि हमारा सब का ऐसा मनोनिर्माण ही ऐसा हो चुका है । वस्तुतः युद्ध न तो तड़क-भड़क वाला है और न ही आकर्षक होता है । वह तो एक बर्बर विभीषिका है, जो स्वभावतः दुःखद एवं दुःखान्त होती है ।

युद्ध मानव समाज में लगी मानो आग ही हो, जिसकी समिधा जीवित प्राणी हैं । आग का यह रूपक मुझे अच्छा लगता है तथा उपयुक्त भी । आधुनिक युद्ध लड़े जाते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के आग्नेय अस्त्रों से; परन्तु हम इन्हें रोमांचकारी कहने के इतने आदी हो चुके हैं कि हम अमुक-अमुक हथियारों की तकनीकी के चमत्कारों के बारे में रुचि के साथ बातें करते हैं तथा यह भूल जाते हैं कि यदि इन घातक चमत्कारों को उपयोग में लाया गया तो मानव ही भस्मीभूत होंगे । युद्ध जिस तरह फैलता है, वहां भी आग की उपमा सार्थक सिद्ध होती है । यदि युद्ध का एक क्षेत्र निर्बल पड़ जाता है तो सेनाध्यक्ष वहां अतिरिक्त सैन्य-बल भेज देता है । यह मानों जीते-जागते लोगों को आग में ढकेलने वाली बात ही तो है । किन्तु हमारा मनोनिर्माण ही इस ढंग से हो चुका है कि हम एक व्यक्ति के रूप में सैनिक के सम्बन्ध में कुछ चिन्ता ही नहीं करते । कोई भी सैनिक न मरना चाहता है और न हताहत होना चाहता । उसके बन्धुजन भी नहीं चाहते कि उसे कोई हानि पहुँचे । एक सैनिक की मृत्यु से अथवा जीवन भर के लिए पङ्गु बन जाने से कम से कम अन्य पांच दस जनों अर्थात् मित्रों और परिवार-जनों पर भी विपदा टूट पड़ती है । इस प्रकार की बड़ी त्रासदी से हमें भयभीत होना चाहिए, परन्तु हम अत्यधिक संवदेनहीन हो चुके हैं, इस दुःखान्त स्थिति को सोच ही नहीं पाते ।

सच पूछें तो मुझे भी बचपन में फ़ौज बहुत अच्छी लगती थी । वाह, सैनिकों की वर्दियां कितनी चुस्त और आकर्षक होती है । बस यहीं से शुरू होता है हमारा गलत दिशा में बहना अथवा मनोविचलन । बच्चे धीरे-धीरे यही खेल खेलने लगते हैं, जो भविष्य

में विपत्ति का कारण बनता है । मानव की हत्याओं पर आधारित इन खेलों और गणवेशों (वर्दियों) के अतिरिक्त बच्चों के आमोद-प्रमोद हेतु बहुत दूसरे खेल तथा गणवेश भी तो होते हैं । इतना ही नहीं, यदि हम प्रौढ़ लोग युद्ध के प्रति आकर्षित न होते तो हम समझ जाते कि अपने बच्चों को युद्ध के खेल आदि खेलने की आदत डालना कितनी दुर्भाग्यपूर्ण बात है । कई भूतपूर्व सैनिकों ने मुझे बताया है कि जब उन्होंने अपनी गोली से पहला आदमी मारा तो उन्हें कुछ अटपटा, कुछ खटका सा महसूस हुआ, परन्तु ज्यों ज्यों वे और हत्याएँ करते गए तो वे उसके अभ्यस्त हो गए तथा सब सामान्य लगने लगा । वस्तुतः समय पाकर हम किसी भी बात के अभ्यस्त हो जाने में समर्थ हैं ।

सैनिक संस्थान मात्र युद्ध के समय ही विध्वंसक नहीं होते, बल्कि अपनी संरचना में ही वे मानवाधिकारों के हनन की एकमात्र बड़ी व्यवस्था होते हैं । मानवाधिकारों के दुरुपयोग द्वारा सर्वाधिक क्षति तो सैनिकों को ही पहुँचती है । सेना के प्रभारी अधिकारियों द्वारा सेना के महत्त्व पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डालने के पश्चात् तथा उसकी अनुशासन पद्धति एवं शत्रु पर विजय प्राप्त करने के कौशल आदि पर भाषण के पश्चात् उक्त सैनिक बल के उस महान् समूह को समस्त अधिकारों से वञ्चित कर दिया जाता है । उन्हें अपनी व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति को भी तिलांजलि देने पर मजबूर कर दिया जाता है तथा अन्त में अपने जीवन तक की बलि देने पर । अतिरिक्त इसके, कोई भी सेना जब अत्यधिक बलवती बन जाती है तो खतरा बना रहता है कि कहीं वह अपने राष्ट्र की सुख-शान्ति को ही विनष्ट न कर डाले ।

प्रत्येक समाज में विध्वंसक वृत्ति के लोग होते हैं । अपनी इच्छापूर्ति के साधन के रूप में किसी शक्तिशाली संस्था पर नियंत्रण जमाने की लालसा ऐसे व्यक्तियों में बड़ी प्रबल हो जाती है । वर्तमान में अपने राष्ट्रों पर अत्याचार करने वाले तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को जन्म देने वाले हत्यारे तानाशाह कितने भी दुष्ट तथा बुरे क्यों न हों तो भी इतना तो स्पष्ट ही है कि समाज द्वारा

स्वीकृत तथा मान्यता-प्राप्त सैन्य व्यवस्था के बिना वे न दूसरों को हानि पहुंचा सकते हैं और न ही अनगिनत लोगों का जीवन नष्ट कर सकते हैं । जब तक शक्तिशाली सैन्यबल रहेंगे, संसार में तानाशाही का भय बना रहेगा । यदि वास्तव में हम यह विश्वास करते हैं कि तानाशाही शासन व्यवस्था निन्दनीय तथा विनाशकारी होती है तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि इस का एक मुख्य कारण है सशक्त सैन्य संगठनों की उपस्थिति ।

सैन्यीकरण बहुत मंहगा भी पड़ता है । सैन्य शक्ति के सहारे शान्ति स्थापित करने के प्रयासों से समाज पर अनावश्यक बड़ा आर्थिक बोझ भी पड़ता है । नए-नए जटिल हथियारों पर राज्य-सरकारों द्वारा बहुत अधिक धनराशि व्यय की जाती है, जबकि वास्तव में कोई सरकार उन हथियारों का उपयोग करना भी नहीं चाहती । केवल धन ही नहीं, बल्कि बहुमूल्य शक्ति तथा मनुष्य की बुद्धि का भी अपव्यय होता है, जबकि परिणामस्वरूप विश्व में बढ़ोतरी होती है तो मात्र भय की ।

मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यद्यपि मैं युद्ध के विरुद्ध हूँ, परन्तु अन्याय के साथ समझौते की नीति का समर्थक बिलकुल नहीं हूँ । अन्यायपूर्ण आक्रमण एवं ज़ोर-ज़बरदस्ती के विरुद्ध प्रायः दृढ़तापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक होता है । उदाहरण के तौर पर हम सब को स्पष्ट रूप से बताया गया है कि द्वितीय विश्वयुद्ध पूर्णतया न्याय-संगत था । जैसे कि चर्चिल ने कहा था— "द्वितीय विश्वयुद्ध ने संसार को नाज़ी बर्बरता से बचा लिया ।" मेरे विचार में तो कोरिया युद्ध भी न्याय-संगत था, क्योंकि उसके फलस्वरूप दक्षिण कोरिया को प्रजातन्त्र विकसित करने का अवसर मिला । हाँ, इतना अवश्य विचारणीय है कि अमुक संघर्ष नैतिकता की दृष्टि से न्याय-संगत था अथवा नहीं, इसका निर्णय हमारी परिणाम देखने वाली निष्पक्ष दृष्टि ही कर सकती है । उदाहरणार्थ हमें पता है कि शीत युद्ध के दिनों में आणविक अस्त्रों का भय कुछ मूल्य अवश्य रखता था । किन्तु ऐसे सभी मामलों का ठीक़-ठीक मूल्यांकन कर पाना बहुत कठिन है । युद्ध हिंसा है तथा हिंसा के बारे में कोई भविष्यवाणी करना सम्भव भी नहीं । इसलिए

हो सके तो इससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है तथा कभी भी आरम्भ में ही कोई ऐसी धारणा बनानी ही नहीं चाहिए कि अमुक युद्ध का परिणाम हितकर होगा अथवा नहीं ।

शीत युद्ध का उदाहरण लीजिए; हो सकता है कि अणु-अस्त्रों के भय से स्थिरता कायम रखने में कुछ सहायता अवश्य मिली हो, परन्तु उससे वास्तविक शान्ति तो स्थापित नहीं हुई । गत चालीस वर्षों में योरूप में युद्ध की अनुपस्थिति मात्र रही है, न कि वास्तविक शान्ति की उपस्थिति, जो कि भय पर आधारित (शान्ति की) एक प्रतिच्छाया की तरह ही है । शान्ति की रक्षा के लिए शस्त्रीकरण केवल एक अस्थायी कदम भर है । जब तंक विरोधी शक्तियों में पारस्परिक विश्वास उत्पन्न नहीं होता, किसी भी कारण से शक्ति सन्तुलन बिगड़ सकता है । स्थायी शान्ति केवल आपसी विश्वास द्वारा ही स्थापित हो सकती है ।

विश्व शान्ति हेतु निरस्त्रीकरण

अपने समस्त इतिहास में मानवता किसी न किसी ढंग से शान्ति की खोज में संलग्न रही है । "विश्व शान्ति हमारी मुट्ठी में आने वाली है"—क्या हम इस प्रकार आशावादी हैं ? मैं नहीं मानता कि लोगों में घृणा की मात्रा बढ़ी है; हाँ, विनाशक हथियारों के माध्यम से इस की अभिव्यक्ति में वृद्धि अवश्य हुई है । दूसरी ओर, इस शताब्दी में इन विध्वंसक हथियारों द्वारा हुए नर-संहार के दुःखद परिणामों के अनुभवों से हमें अवसर प्राप्त हुआ है युद्ध पर क़ाबू पाने का, उसकी रोक-थाम का । इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निरस्त्रीकरण अनिवार्य है ।

नए राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही निरस्त्रीकरण सम्भव हो सकता है । इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करने के पूर्व यह सोच लेना उपयुक्त होगा कि किस प्रकार की शान्ति-प्रक्रिया सर्वाधिक श्रेयस्कर रहेगी । उत्तर स्पष्ट है । सर्वप्रथम हमें परमाणु अस्त्रों को बहिष्कृत करना होगा, उसके पश्चात् जैविक तथा रासायनिक हथियारों को, फिर आक्रामक शस्त्रों को तथा अन्त में

प्रतिरक्षात्मक हथियारों को । इसी के साथ शान्ति को सुरक्षित बनाने हेतु हमें विश्व के किन्हीं-किन्हीं भागों में एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस बल का गठन शुरू करना चाहिए, जिस में प्रत्येक राष्ट्र का समान प्रतिनिधित्व हो तथा जिस का नेतृत्व सामूहिक हो । धीरे-धीरे यह एक विश्व-व्यापी बल बन जाएगा ।

निरस्त्रीकरण तथा संयुक्त पुलिस बल के गठन की द्विपक्षीय प्रक्रिया बहुदेशीय तथा प्रजातान्त्रिक होने के कारण किसी भी एक राष्ट्र द्वारा मूल सिद्धान्तों का उल्लंघन किए जाने पर बहुमत द्वारा उसकी आलोचना अथवा हस्तक्षेप की क्षमता आश्वस्त रहेगी । इसके अतिरिक्त, समस्त बड़े सैन्य बलों के दूर हो जाने तथा सीमा सम्बन्धी विवादों जैसे सभी टकराव व झगड़े संयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस बल के अधिकाराधीन होने के कारण छोटे-बड़े सारे राष्ट्रों का दर्जा वास्तव में समान होगा । इन सुधारों द्वारा एक स्थायी एवं विश्वव्यापी शान्त वातावरण सुनिश्चित हो जाएगा ।

निस्सन्देह शस्त्रों के निर्माण की होड़ से बचा धन भी मानो एक सहज-लब्ध सम्पदा की तरह होगा, जो. विश्व के विकास में अभूतपूर्व रूप से सहायक होगा । आज विश्व के राष्ट्र सैन्य बलों के रख-रखाव पर वर्ष में करोड़ों डालर व्यय करते हैं । क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि उतनी धनराशि द्वारा कितने अस्पताल, विद्यालय तथा मकान बन सकते हैं ? जैसे मैंने पहले कहा है उपलब्ध साधनों का विशाल मात्रा में सैनिक विस्तार हेतु व्यय कर देने से न केवल ग़रीबी, निरक्षरता तथा रोगों के उन्मूलन में बाधा पड़ती है, बल्कि बहुमूल्य मानव बुद्धि का भी अपव्यय करना पड़ता है । हमारे वैज्ञानिक अत्यन्त कुशाग्र-बुद्धि हैं । हम उनकी योग्यता का इन नकारात्मक दुःखद प्रयासों में क्यों अपव्यय करें, जबकि हम उस का सदुपयोग विश्व के सकारात्मक विकास के हित में कर सकते हैं ।

सहारा तथा गोबी जैसे विशाल मरुस्थलों को कृषि योग्य बना कर खाद्यान्न की उपज में वृद्धि की जा सकती है तथा अन्य स्थानों

की जनसंख्या के घनेपन को कम किया जा सकता है । कई देशों में सूखे का भयंकर संकट रहता है । हम जल को लवण–रहित करने की प्रक्रिया को सस्ते दर पर विकसित करके समुद्र के जल को पेय जल के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं । ऊर्जा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनेक ज्वलन्त समस्याएँ हैं, जिनके समाधान हेतु अधिक उपयोगी ढंग से हमारे वैज्ञानिक सोच सकते हैं । ऐसे वैज्ञानिकों के प्रयासों द्वारा शीघ्र आर्थिक विकास सम्भव होने से उनको देय धनराशि में भी बढ़ोतरी की जा सकती है ।

हमारी धरती को विशाल प्राकृतिक साधनों का वरदान प्राप्त है । यदि हम उन का सदुपयोग करें, सैन्यीकरण तथा युद्ध को बहिष्कृत कर दें, तो सचमुच ही प्रत्येक मानव का जीवन सुखी, समृद्ध तथा स्वस्थ बन सकता है ।

स्पष्ट है कि विश्व–शान्ति सहसा प्रकट नहीं हो सकती । इस का प्रादुर्भाव शनैः शनैः ही सम्भव है, क्योंकि सारे विश्व में परिस्थितियों का वैविध्य है । हां, इसका कोई कारण नहीं कि वह (शान्ति) एक प्रदेश में जन्म लेकर धीरे–धीरे एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक न फैल सके ।

जिस शान्तिपूर्ण विश्व की हम कल्पना कर रहे हैं, उसके हित में मेरा सुझाव है कि 'योरोपीय समुदाय' की तरह के समुदायों की स्थापना विश्व–व्यवस्था के एक अनिवार्य अंग के रूप में अवश्य होनी चाहिए । शीत–युद्धोत्तर वातावरण के निष्पक्ष अध्ययन से विश्वास होता है कि इस प्रकार के समुदाय निश्चित ही नई विश्व व्यवस्था के वास्तविक तथा अनिवार्य अंग हो सकते हैं । दिनोदिन बढ़ रही हमारी परस्पर निर्भरता की गुरुत्वाकर्षण शक्ति मानों आवश्यक बना रही है, नई–नई तथा अधिक सहकारी संस्थाओं की उपस्थिति । इसी दिशा में 'योरोपीय समुदाय' एक मार्गदर्शक संगठन है, जो एक ओर आर्थिक, सैनिक तथा राजनीतिक संगठनात्मकता में सन्तुलन को बनाए रखने और दूसरी ओर सदस्य राष्ट्रों की प्रभुसत्ता को स्थिर रखने में सराहनीय कार्य कर रहा है । इस कार्य से मुझे स्फूर्ति

प्राप्त हुई है । मेरा विचार है 'स्वतन्त्र देशों का राष्ट्रकुल' भी इसी प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है । इस संगठन के प्रजातान्त्रिक राष्ट्रिकों के मन में भी उपर्युक्त संगठनात्मक सहकारिता के बीज वर्तमान हैं । इस सन्दर्भ में मैं दोनों अर्थात् अपने देश तिब्बत और चीन के भविष्य के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहूंगा ।

चीन की स्थिति

भूतपूर्व सोवियत संघ की भांति चीन भी एक बहु-राष्ट्रीय राज्य है, जिसे एक विस्तारवादी विचारधारा के अन्तर्गत कृत्रिम रूप से गढ़ा गया है । उसका आज तक बलपूर्वक साम्राज्यवादी ढंग से शासन चलाया जा रहा है । चीन के हित में उसका शान्तिपूर्ण, समृद्ध तथा राजनीतिक तौर पर स्थिर भविष्य निर्भर करता है चीन द्वारा न केवल अपने लोगों की, बल्कि उसके स्वतन्त्रताभिलाषी तथाकथित आठ करोड़ 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों' की आकांक्षाओं की एक खुली तथा प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली द्वारा पूर्ति । एशिया के इस भू-भाग के लिए— जो इस महाद्वीप का हृदय है तथा विश्व की जन-संख्या का पांचवा भाग है—आवश्यक है कि वह जो आज 'चीनी गणतन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है, उसे बदला जाए एक बहु-जातीय, प्रजातन्त्रात्मक, सहकारी जातीय संघ में, जिस के सभी राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न हों ।

उपर्युक्त प्रकार का जातीय संघ केवल उन्हीं लोगों तक सीमित नहीं होना चाहिए, जो इस समय साम्यवादी चीन की दासता में है— जैसे तिब्बती, मंगोलियाई तथा ऊइगुर लोग । सम्भवतः हांग-कांग-वासी, स्वतन्त्र ताईवान के समर्थक लोग तथा वे दूसरे भी, जो उत्तर कोरिया, वियतनाम, लाओस तथा कम्बोडिया आदि की साम्यवादी सरकारों के दमन चक्र द्वारा त्रस्त हैं और जो एक इसी प्रकार के एशियाई समाज की स्थापना में रुचि रखते हों । हां, उन लोगों के लिए, जिनके ऊपर आज साम्यवादी चीन का शासन है, ऐसा करना तो परम आवश्यक है ही । यदि इस लक्ष्य की ओर सुचारु ढंग से प्रयास हो तो हिंसक विघटन, प्रदेशवाद तथा अराजकतापूर्ण अफ़रा-तफ़री की उस स्थिति की पुनरावृत्ति से, जिस से

वह महान् देश चीन समग्र बीसवीं शताब्दी में ग्रस्त रहा है, बच सकता है । इस समय चीन का राजनीतिक जीवन इतना ध्रुवीकृत हो चुका है कि इस भय के लिए कारण उपस्थित हैं कि कहीं शीघ्र ही कोई खून-खराबा अथवा त्रासदी घटित न हो जाए । हम में से प्रत्येक का, विश्व समाज के हर किसी सदस्य का यह नैतिक दायित्व है कि वह उस सामाजिक संघर्ष को रोकने का प्रयत्न करें, जो चीन की विशाल जनसंख्या के लिए भयंकर दुःख का कारण बन सकता है ।

मेरा विश्वास है कि वार्तालाप, समझौते तथा संयतात्मकता की वह प्रक्रिया ही, जो एक एशियाई समाज के निर्माण हेतु घटित होगी, चीन में भी एक नई व्यवस्था के शान्तिपूर्ण विकास में सहायक सिद्ध होगी । आरम्भ से ही, उपर्युक्त समाज-व्यवस्था के सदस्य शायद राजी हो जाएं कि प्रतिरक्षा में तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी पारस्परिक सहमति बनी रहे । इस तरह सहयोग के अनेक अवसर उपलब्ध होंगे । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र तथा संयतात्मकता की शक्तियों के लिए हमें शान्तिपूर्ण तथा अहिसात्मक तरीके ढूंढ़ने पड़ेंगे, ताकि अन्यायपूर्ण अत्याचार एवं दमन की वर्तमान स्थिति से वे सफलतापूर्वक उभर सकें ।

शान्ति-क्षेत्र

उपर्युक्त एशियाई समाज में तिब्बत की भूमिका रहेगी, जैसे मैं पहले कह चुका हूं, एक 'शान्ति-क्षेत्र' की, अर्थात् एक तटस्थ, असैनिक शरणस्थली की, जहां शस्त्रों का निषेध होगा तथा लोग प्रकृति के साथ मैत्रीभाव से रहेंगे । यह एक सपना नहीं, अपि तु यह वह वास्तविकता है, जिस में तिब्बत के लोगों ने कोई हज़ार वर्ष से अधिक जीवन-यापन किया है, अपने पर हुए आक्रमण से पूर्व । जैसे कि सभी को विदित है, तिब्बत में समग्र वन्य प्राणी बौद्ध सिद्धान्त के अनुरूप सुरक्षा के पात्र थे । इसके अतिरिक्त, कम से कम गत तीन सौ वर्षों में हमारे पास कोई विशेष सैन्य-बल भी न था । अपने तीन महान् धार्मिक नरेशों के राज्यकालों के अलावा

छठी और सातवीं शताब्दियों से तिब्बत युद्ध को एक राष्ट्रीय नीति के रूप में तिलांजलि दे चुका था ।

जहां तक क्षेत्रीय समाजों को विकसित करने तथा निरस्त्रीकरण से सम्बद्ध प्रश्नों की बात है मेरा सुझाव है कि प्रत्येक ऐसे समाज का 'हृदय' अथवा केन्द्र-बिन्दु एक या एक से अधिक ऐसे राष्ट्र हो सकते हैं, जो शान्ति-क्षेत्र बनने का निर्णय ले चुके हों तथा जिन में सैन्य-बलों का निषेध हो । यह भी कोई सपना मात्र नहीं । चार दशक पूर्व दिसम्बर १९४८ में कोस्टारिका ने अपनी सेनाओं को भंग कर दिया था । हाल ही में ३७% स्विस लोगों ने अपनी सेनाओं को भंग कर दिए जाने के पक्ष में मत दिया । चेकोस्लोवाकिया की नई सरकार ने सभी शस्त्रों के निर्माण तथा निर्यात पर रोक लगा दी है । सो, यदि जनता चाहे तो कोई भी देश अपने रूढ़िगत तरीक़ों को बदलने के लिए क्रान्तिकारी पग उठा सकता है ।

क्षेत्रीय समाजों एवं समुदायों के मध्य-स्थित शान्ति-क्षेत्र स्थिरता के मरु-उद्यान की भाँति होंगे । उक्त समुदायों द्वारा गठित किसी सामूहिक बल पर होने वाले व्यय का अपना अंश वहन करते हुए वे शान्ति-क्षेत्र एक सम्पूर्णतया शान्ति-सम्पन्न विश्व व्यवस्था के अग्रदूत तथा ज्योति-स्तम्भ बन जाएंगे तथा वे किसी भी झगड़े में संलिप्त होने से अलग रहेंगे । यदि एशिया, दक्षिण अमरीका और अफ़्रीका में ऐसे क्षेत्रीय समुदायों का विकास हो जाए तथा निरस्त्रीकरण में प्रगति हो जाए, ताकि सभी क्षेत्रों से एक अन्तर्राष्ट्रीय बल का गठन हो पाए, तो ये शान्ति-क्षेत्र फैल सकते हैं और विश्व में शान्ति को बढ़ावा मिल सकता है ।

जब हम राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक तौर पर एक अधिक सहकारितापूर्ण विश्व के निर्माण हेतु उपर्युक्त अथवा अन्य किसी सुझाव पर विचार करें तो हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम किसी दूरस्थ भविष्य के बारे में सोच रहे हैं । उदाहरणार्थ, नव-स्फूर्ति-प्राप्त अड़तालीस सदस्यीय 'योरोपीय सुरक्षा तथा सहयोग सम्मेलन' द्वारा पहले ही न केवल पूर्वी और पश्चिमी योरप के राष्ट्रों

के बीच, बल्कि 'स्वतन्त्र देशों के राष्ट्रकुल' तथा अमरीका के बीच भी एक सहयोगी गठबन्धन की नींव रख दी गई है । इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं के कारण दो महा-शक्तियों के मध्य किसी बड़े युद्ध की सम्भावना प्रायः निरस्त हो चुकी है ।

इस विचार-विमर्श में मैंने संयुक्त राष्ट्र को शामिल नहीं किया है, क्योंकि एक बेहतर विश्व के निर्माण हेतु उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका तथा एतदर्थ उसकी क्षमता सर्व-विदित है । उसकी परिभाषा के अनुरूप उसे तो घटित हो रहे समस्त परिवर्तनों का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए । हां, भविष्य के लिए शायद इसकी संरचना में फेर-बदल ज़रूरी है । संयुक्त-राष्ट्र-संघ के प्रति मेरी आशाएं बहुत प्रबल रही हैं तथा बिना किसी आलोचना की दृष्टि के, मैं यह कहना चाहूंगा कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की वे परिस्थितियां, जिनमें इसका अधिकार-पत्र बनाया गया था, अब बदल चुकी हैं । इस बदलाव के साथ अब अवसर प्राप्त हुआ है संयुक्त राष्ट्र संघ को अधिक लोकतान्त्रिक रूप देने का, विशेषकर सीमित सुरक्षा परिषद को अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाने का, जबकि इस समय उसके मात्र पांच स्थायी सदस्य ही हैं ।

उपसंहार

अन्त में मैं कहना चाहूंगा कि साधारणतया मैं विश्व के भविष्य के बारे में आशावादी हूं । कुछ अभिनव प्रवृत्तियां द्योतक प्रतीत हो रही हैं एक बेहतर विश्व की । पचास तथा साठ के दशकों तक भी लोगों का विश्वास था कि मानवता के हित में युद्ध अनिवार्य है । विशेषतः शीतयुद्ध द्वारा इस भावना को बल मिला कि परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रणालियों में टकराव अवश्यम्भावी होता है, न कि पारस्परिक सद्भाव अथवा सहयोग, किन्तु आज बहुत कम लोग ऐसा सोचते हैं । आज विश्व भर में शान्ति के सम्बन्ध में लोगों की चिन्ता वास्तविक है । वे वादों के प्रचार में अधिक रुचि न दिखाते हुए अब सह-अस्तित्व के प्रति प्रतिबद्धता रखते हैं । ये सब सकारात्मक घटना-क्रम हैं ।

सहस्रों वर्षों तक लोगों की यह धारणा भी रही कि उग्र अनुशासनात्मक सिद्धान्तों वाली एक-तन्त्रात्मक सत्ता ही मानव समाज पर शासन कर सकती है । फिर भी स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के लिए जनसाधारण की आकांक्षाएं स्वाभाविक होती हैं तथा इन्हीं दो विचारधाराओं में परस्पर विरोध भी रहा है । हां, आज यह स्पष्ट हो गया है कि विजय किसकी होती है । अहिंसात्मक 'जनशक्ति' आन्दोलनों के उद्‌भव से स्पष्ट है कि मानव-समाज किसी भी अत्याचारी प्रशासन को न सहन कर सकता है, न उसके अन्तर्गत अधिक दिनों तक सुचारु ढंग से काम कर सकता है । यह मान्यता ही एक अद्‌भुत प्रगति का संकेत है ।

एक अन्य आशाजनक बात है विज्ञान तथा धर्म में दिनोदिन बढ़ रही समन्वय की भावना । समस्त उन्नीसवीं शताब्दी तथा बीसवीं शताब्दी के भी अधिकांश समय तक आपाततः इन दो विरोधी प्रतीत होने वाली विश्व की धारणाओं में परस्पर संघर्ष था, जिसके कारण लोगों में बड़ा मति-भ्रम रहा है । आज भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान या मनोविज्ञान ऐसे परिष्कृत स्तर को प्राप्त हो चुके हैं कि अनेक शोध-कर्ता संसार तथा जीवन के परमार्थ सत्य से सम्बन्धित गूढ़ प्रश्न पूछने लगे हैं तथा ये वही प्रश्न हैं, जो कि धर्म के भी विषय रहे हैं । अतः वर्तमान समय में एक समन्वित दृष्टिकोण के पक्ष में बड़ी सम्भवानाएं बनी हैं । ऐसा प्रतीत होता कि मानों चित्त तथा पदार्थ-जगत् के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण जन्म ले रहा है । पूर्व में चित्त की खोज महत्त्वपूर्ण रही है, जब कि पश्चिम में पदार्थ-जगत् की खोज । अब जब कि दोनों एक साथ मिल गए हैं तो इन आध्यात्मिक तथा भौतिक विचारधाराओं में अधिक सामञ्जस्य हो सकता है ।

पृथ्वी के प्रति हमारे दृष्टिकोण में त्वरित गति से हो रहे परिवर्तन भी आशा के स्रोत हैं । दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व तक तो हम बड़े विवेकहीन ढंग से इसके साधनों का दोहन करते रहे, मानों उनका अन्त ही न हो । अब न केवल व्यक्ति, बल्कि राज-प्रशासन भी एक नई पर्यावरणीय व्यवस्था की तलाश में हैं । मैं कई बार

विनोद में कहा करता हूं कि चन्द्रमा तथा सूर्य बड़े सुन्दर लगते हैं, परन्तु यदि हम में से किसी ने वहां पर बसने की कोशिश की तो परिणाम अच्छा नहीं होगा । हमारा यह नीला ग्रह अर्थात् पृथ्वी एक अत्यन्त सुन्दर निवास है । इसका जीवन हमारा जीवन है और इसका भविष्य हमारा भविष्य । वेशक मैं यह नहीं मानता कि पृथ्वी स्वयं में एक प्राणी है, परन्तु वह हमारी मां का कर्तव्य निभाती है तथा हम बच्चों की भाँति उस पर आश्रित हैं । आज प्रकृति मां हम से सहयोग की अपेक्षा कर रही है । 'ग्रीन हाऊस'– प्रभाव तथा 'ओज़ोन'–पर्त' में बिगाड़ जैसी विश्व–स्तरीय समस्याओं के समाधान में इक्का–दुक्का संस्थाएँ तथा अकेले–दुकेले राष्ट्र असहाय हैं । जब तक हम मिलजुल कर प्रयास नहीं करेंगे तब तक कोई समाधान उपलब्ध न होगा । हमारी धरती मां हमें सार्व–भौम उत्तरदायित्व की शिक्षा दे रही है ।

उन शिक्षाओं के कारण जो हम ने अब विवेक ग्रहण करना आरम्भ कर दिया है, हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि अगली शताब्दी अधिक मैत्री–पूर्ण तथा समरसतापूर्ण होगी तथा कम हानि–प्रद भी । शान्ति की बीज करुणा पनपेगी, ऐसी मेरी प्रबल आशा है । मेरा यह भी विश्वास है कि विश्व–परिवार को ठीक दिशा–निर्देश देने में हर व्यक्ति का समान दायित्व है । केवल शुभ आकांक्षाएं मात्र पर्याप्त न होंगी, हमें दृढ़ता के साथ उत्तरदायित्व भी स्वीकार करना होगा । महान् जन–आन्दोलन व्यक्तिगत पहल से ही प्रारम्भ होते हैं । यदि आप यह सोचने लगें कि 'मैं क्या प्रभावी हो सकता हूं' तो अन्य जन भी निरुत्साह हो जाएंगे तथा इस प्रकार हम एक महान् अवसर खो देंगे । विपरीत इसके, हममें से प्रत्येक व्यक्ति निजी स्तर पर पर–हित भावना को विकसित करते हुए दूसरे लोगों को भी प्रेरणा प्रदान कर सकता है ।

मुझे विश्वास है कि जो विचार मैंने यहां व्यक्त किए हैं, वे विश्व के अधिकांश ईमानदार और सद्भावनापूर्ण व्यक्तियों के विचार हैं, परन्तु दुर्भाग्य है कि कोई इन्हें सुनता नहीं । सम्भव है मेरी आवाज़ भी कोई न सुने, परन्तु मैंने यह उचित समझा कि मैं उन

लोगों की ओर से बोलूं तो । हां, कुछ लोग शायद यह भी समझें कि दलाई लामा द्वारा ऐसा कहना एक दुस्साहसपूर्ण उपक्रम है । परन्तु मैंने इसे अपना दायित्व माना, क्योंकि मैं नोबेल शान्ति पुरस्कार की राशि ग्रहण कर उसे मन-माने ढंग से व्यय कर लेता तो ऐसा प्रतीत होता कि अतीत में मेरे द्वारा कही गई अच्छी-अच्छी बातें मानों उक्त पुरस्कार की प्राप्ति हेतु ही कही गई हों; परन्तु अब जब मुझे यह पुरस्कार प्राप्त ही हो गया तो मुझे इस सम्मान का ऋण चुकाने के लिए वही बातें पुनः पुनः प्रचारित करनी चाहिए, जिन्हें मैं पहले से भी कहता आया हूं ।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि व्यक्ति ही समाज को विशिष्टता प्रदान कर सकते हैं । वर्तमान काल जैसा परिवर्तनशील युग बड़ा ही दुर्लभ होता है, इस कारण हम में से प्रत्येक पर यह निर्भर करता है कि हम एक अधिक सुख-मय विश्व के निर्माण में सहयोग देने हेतु अपनी शक्ति और अपने समय का पूरा सदुपयोग करें ।

*

पुस्तकालय
Acc. No. 28967

तिब्बत के दलाई लामा शान्ति-दूत के रूप में एक विश्व-वन्द्य, सर्व-प्रशसित व्यक्ति हैं । तिब्बती जनों के धार्मिक तथा राजनीतिक नेता के तौर पर उन्होंने घोर आक्रमण के समय भी निरन्तर अहिंसात्मक नीतियों का प्रतिपादन किया है । उनकी इसी धारणा के फल-स्वरूप १९८९ का नोबेल शान्ति पुरस्कार उन्हें प्रदान किया गया । अपने सन्देश की सादगी, भावप्रवणता तथा सार्वभौमिकता के कारण अपने परिभ्रमणों तथा प्रवचनों के दौरान उन्होंने विश्व भर की विभिन्न संस्कृतियों एवं धर्मों के लोगों के दिल को छुआ है । विश्व के राष्ट्रों तथा लोगों के बीच पारस्परिक आदर भाव, समझ-बूझ तथा करुणा की भावना हो—यही उनका सन्देश है ।

इस पुस्तिका में परम पावन दलाई लामा हमारी द्रुत गति से बदलती हुई दुनिया की नवीन राजनीतिक चुनौतियों के समक्ष एक मार्ग दिखाते हैं—सार्वभौम उत्तरदायित्व की भावना का मार्ग । उनका यह निबन्ध वर्तमान विश्व की एक महानतम विभूति के विचारों का प्रतिबिम्ब भी है ।